

वो कागज की कश्ती, वो बारिश का पानी

□ मिहिर

ये एक बहुत अलग और अनोखा-सा अनुभव था। जैसे आप अपने पुश्तैनी मकान का बरसों बाद ताला खोल रहे हों। वो मकान जहां आपका सारा बचपन बीता। वो मकान जो एक वक्त आपकी पूरी दुनिया था और आज जो आपकी दुनिया से बाहर है। आप उस मकान के हरेक कोने को अपने हाथों से सहलाते हैं। अरे .. ये अलमारी की चिटकनी तो मेरे हाथ ही नहीं आती थी ! कितना उछलता था मैं इस दरवाजे को खोलने के लिए। हां... इसी कोने में तो वो बड़े-बड़े ड्रम रखे रहते थे जिनके पीछे छिपे-छिपे हम घंटों बिता देते थे छुपम-छुपाई में। वो दोस्तों की टोली याद आती है जो सब काम साथ करते थे ... चाहे खेल, चाहे लड़ाई। जिनसे एक पल के लिए बिछुड़ना मुश्किल था। आज सब ऐसी राहों पर निकल गए हैं जो दूर तक एक-दूसरे को नहीं काटतीं।

मुझे नहीं मालूम था कि महज कुछ किताबों की धूल झाड़ना मुझे वापस उस सपनीली दुनिया में ले जाएगा। वो दुनिया जहां मैं बचपन में रहता था या यों कहें कि जहां मेरा बचपन रहता है! मैंने तो बस एक खिड़की खोली थी और उस खिड़की में से अनगिनत रंग-बिरंगी तस्वीरें मेरे आस-पास आकर बिखर गईं।

कहते हैं हर आदमी के भीतर एक छोटा-सा बच्चा छिपकर बैठा होता है। और फिर मेरे भीतर का वो बच्चा तो ज्यादा देर छिपकर बैठना भी पसंद नहीं करता। बार-बार मचलकर बाहर आ जाता है। कायदे से बीस साल की उम्र तक बचपना चला जाना चाहिए (अब तो टीन एज भी खत्म हुई!) पर मैं तो आज भी जब मेले में जाता हूं तो एक गुब्बारा और एक पूंपाड़ी खरीदे बगैर वापस नहीं आता। तो जब मेरे भाई ने मुझे अपने बचपन में पढ़ी किताबों

पर कुछ लिखने को कहा तो मैंने तुरंत हां कर दी। इसी बहाने उस बच्चे से भी कुछ जान-पहचान बना लेंगे जो बार-बार बाहर आने को मचलता है।

लेकिन ये उतना आसान नहीं था जितना मैंने समझा था। मैं दिल्ली से पंद्रह दिन की छुट्टियों में अपने घर.. (राजस्थान के टोंक जिले की निवाई तहसील में बसे विश्वविद्यालय 'वनस्थली विद्यापीठ' का एक दो कमरे, बिना खिड़की वाली रसोई और बड़े से चौक वाला मकान)... आया था। सोचा था पुरानी किस्से-कहानियों की किताबें वहीं तो पड़ी हैं ... एक बार फिर से पढ़ भी लूंगा और कुछ लिख भी दूंगा हाथों-हाथ। मुझे क्या पता था कि उन पीले पत्रों के बीच 'ईवान' और 'वासिलीसा' मेरा इंतजार कर रहे हैं। वहीं एक तरफ नदी किनारे अपनी बंसी को पानी में डाले 'मीशका' रेत पर पसरा है और दूसरी ओर बेदाढ़ी 'अलदार कोसे' स्टेपी में शानदार तम्बू में बैठा किसी लालची 'बाय' को चूना लगा रहा है।

सारी छुट्टियां मैं पढ़ता रहा ... पढ़ता रहा और नतीजे में कुछ नहीं लिख पाया। क्यों? ये कोई आलस नहीं था। दरअसल इतना कुछ एक साथ दिमाग में चल रहा था कि उसे कागज पर उतार पाना मुश्किल था। और फिर यादों को शब्दों में बयां करना भी कोई आसान काम थोड़े है! आगे के पत्रों में वही बिखरी हुई-सी यादें हैं जिन्हें मैं फिर से कुरेद रहा हूं।

लोककथाओं की शुरूआत हमेशा 'एक समय की बात है' या 'किसी जमाने में कहीं' से होती है। वे किसी खास जगह की नहीं होतीं और इसलिए हर कहीं की हो जाती हैं। प्रेमचंद के



‘गोदान’ का गांव उत्तर भारत का कोई भी गांव हो सकता है और आर. के. नारायण का ‘मालगुडी’ दक्षिण भारत का कोई भी कस्बा। लेकिन इन उपन्यासों की तरह ही हर लोककथा एक खास इलाके की महक अपने भीतर समेटे होती है। जैसे पहली बारिश के बाद गीली मिट्टी से उठती महक। मणि कौल से अमोल पालेकर तक ... जब ‘बिज्जी’ की सुनाई लोककथा ‘दुविधा’ पर फिल्म बनाने का फैसला करते हैं तो उसे फिल्माने उन्हें राजस्थान के बीहड़ों में ही आना पड़ता है। आखिर वही महक तो है जिसे परदे के जरिए देखने वाले तक पहुंचाना है।

यही वो खास महक थी जो उन रूसी लोककथाओं में बसी थी। चाहे वो ‘बाबा-यगा’ के चंगुल से बच निकलने वाली ‘रूपवती वासिलीसा’ का किस्सा हो या अपने भाइयों से धोखा खाने वाले और अन्त में राज्य पाने वाले ‘इवान’ का, सब में उस समाज के सुख:-दुःख, रिश्ते-नाते, हार-जीत नुमायां होते थे। एक पूरी संस्कृति थी जो वहां से यहां तक चलकर आती थी इन कहानियों में।

बचपन में हम राह देखा करते थे एक बस की। ये बस साल में एक बार हमारे यहां आती थी। ये कोई ऐसी - वैसी बस नहीं थी... इस बस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा रहता था ‘रूसी पुस्तक भंडार’। जितने दिन ये बस कैम्पस में रुकती वो हमारे साल के सबसे अच्छे दिन हुआ करते। हमारे स्कूल के बाहर एक बड़ा सा तम्बू तन जाता और उसके अन्दर ये ‘पुस्तक प्रदर्शनी’ सज जाती। हम सब दोस्त क्लास के बीच के हर ब्रेक में भाग-भागकर उस किताबों के मेले में जाते। स्कूल पूरा होने के बाद अंधेरा होने तक घर न लौटते और छुट्टी के दिन अपने माता-पिता से मेले में चलकर वो किताबें दिलवाने की जिद करते जो हम पहले ही वहां पसंद कर आए थे। हालांकि तब भी कई माता-पिता ऐसे थे जो इस पूरी कवायद को ‘आवारागर्दी’ और फालतू किताबों पर खर्च को ‘फिजूल खर्ची’ मानते थे। उनके लिए सिलेबस की किताबें ही बच्चों की पूरी पढ़ाई थी। पर मेरे लिए उन किताबों से एक ऐसी दुनिया झांकती थी जिसके बिना मेरी दुनिया अधूरी थी। इन दोनों दुनियाओं के बीच की रेखा बहुत ही बारीक थी और वक्त बीतने के साथ वो रेखा और ज्यादा धुंधलाती गई है।

आपको मेरा लगातार अपने बचपन में पढ़ी किताबों का संदर्भ भूतकाल में देना अखर रहा होगा। अरे मैं बड़ा हो गया इसका मतलब ये थोड़े है कि अब बच्चे नहीं रहे या उनके लिए किताबें नहीं रहीं। आज भी बच्चे बस में आने वाली किताबों में छिपकर बैठे ‘वासिलीसा’ और ‘इवान’ का इन्तजार करते होंगे। क्यों ?

समय बहुत तेजी से गुजरता है। वक्त बहुत तेजी से बदलता है। मैं शायद उस आखिरी पीढ़ी का प्रतिनिधि हूँ जिसे बचपन में वो रूसी कहानियां पढ़ने को मिलीं। 1989 में सोवियत बिखराव के

समय मेरी उम्र चार-पांच साल की रही होगी। कहते हैं उसके बाद कुछ भी पहले जैसा नहीं रहा, सब बदल गया.. चाहे वो भूगोल हो चाहे इतिहास। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में द्वि-ध्रुवीय विश्व का मॉडल ध्वस्त हुआ और एक बर्बर महाशक्ति के रूप में अमेरिका सामने आया।

इस सारी उठापटक से अनभिज्ञ उस छोटे से बच्चे की जिंदगी में भी बहुत कुछ बदल रहा था। पहले उस बस में नई किताबें आनी बंद हुईं और बाद में वो बस आना ही बंद हो गई। धीरे-धीरे सब बदल रहा था। उसने तो कहानियों में पढ़ा था कि पूरी जिंदगी सिर्फ बांसुरी बजाकर और लोगों को हंसाकर भी काटी जा सकती है पर अब उसे समझाया जा रहा था कि ‘साइंस पढ़ना’ और ‘इंजीनियर ही बनना’ कितना जरूरी है। सब कह रहे थे कि ये तो ‘प्रतियोगिता का जमाना’ है और बच्चे को वो सात दोस्तों की कहानी याद आ रही थी जो सब काम साथ करते थे।

मेरा बचपन ऐसे ही ‘संक्रमणकाल’ में बीता है। बेशक मैं 91 में मनमोहन सिंह की आर्थिक नीति से अनभिज्ञ था पर अपनी दुनिया को बदलते हुए मैंने देखा है। मैं ही नहीं मेरे जैसे लाखों बच्चे इस बदलाव के मूक गवाह रहे हैं। और इसलिए मैं 89 में सोवियत पराभव और 91 में भारत के उदारीकरण की राह पर चलने को कभी अलग-अलग नहीं देख पाता। शायद सोवियत पराभव के बाद भारतीय ‘राज्य’ को किसी ‘लोक कल्याणकारी राज्य’ जैसे मुखौटे की भी आवश्यकता नहीं बची थी। उसने तुरंत इसे भी उतार फेंका। पर इन सबसे अलग ये घटनाएं एक बच्चे के यादों के संसार में कैसे बदलाव लाईं ? ‘इवान’ और ‘वासिलीसा’ उस संसार से निकाल बाहर किए गए। आज कोई बच्चा किसी रूसी कहानियों से भरी बस का इंतजार नहीं करता। समय बहुत तेजी से गुजरता है। वक्त वाकई बहुत तेजी से बदल जाता है।

मैंने पहले लिखा है कि हर कहानी में एक खास इलाके की महक होती है। जैसे पहली बारिश के बाद गीली मिट्टी से उठती महक। लेकिन ये भी सच है कि पहली बारिश के बाद गीली मिट्टी से जो सौंधी गंध उठती है उसका एहसास मुझे भी वैसे ही लुभाता है जैसे विश्व के किसी भी बच्चे को। रचना का यही ‘सार्वभौम’ तत्व उसे देश-दुनिया की सीमाओं के पार ले जाता है। बचपन में मैं एक किताब बार-बार पढ़ा करता था। किताब का नाम था ‘पापा जब बच्चे थे’। एक पिता की अपनी बच्ची को सुनाई गई कहानियां जिसमें वो अपने बचपन में की गई शैतानियों के किस्से अपनी बीमार बेटी को सुनाता है। ये किताब मेरे लिए नहीं खरीदी गई थी, किताब मुझ तक पहुंची थी। मेरे बड़े भाई को तोहफे में मिली ये किताब मेरे घर के सभी बच्चों ने अपने बचपन में पढ़ी है। मेरे पिता ने जब ये किताब मेरे चचेरे भाई को दी थी तो वह यही समझता



था कि ये उनके ही बचपन के किस्से हैं। आज भी हम ये बात याद कर खूब हंसते हैं। पर इसी मजाक में वो सच्चाई छुपी है जिसका जिक्र मैं ऊपर कर रहा था। वो छोटी-छोटी कहानियां जैसे 'पापा ने अपनी गेंद मोटर के नीचे फेंकी', 'पापा जब बुरा मान जाते थे', 'पापा ने जब मास्टरनी जी को धोखा दिया' या 'पापा ने स्टूल बनाया', किसी भी 7-8 साल के बच्चे को अपने अनुभव लगते हैं।

एक रूसी लोककथा में जब मुकदमे के लिए जाते हुए गरीब किसान सोचता है, "खुद तो कभी अदालत का मुंह नहीं देखा, मगर यह कहावत जरूर सुनी है - सबल सदा निर्बल को पछाड़ता है और मुकदमे में गरीब अमीर से हारता है। मुझे अवश्य ही अपराधी ठहराया जायेगा।" तो प्रेमचंद याद आते हैं। प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' की शुरूआत में लिखा था, "शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएं और उनके मुकदमे बाजी के अखाड़े होते हैं, जहां न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है।" प्रेमचंद 'उनके' लिखकर साफ कर देते हैं कि वो किस तरफ खड़े हैं, बिल्कुल उन रूसी लोककथाओं की तरह।

आखिर में एक किताब का जिक्र और, इसके बिना बात अधूरी रह जाएगी। 'मीशका का दलिया' नाम की ये किताब मेरे दिल के सबसे करीब रही है। और इस करीबी का कारण तो आप मीशका से मिलकर ही जान सकते हैं। वो खिलंदड़पना और वो जिंदादिली जो मीशका में थी, उसे आज दूढ़ पाना बहुत मुश्किल है। मीशका किसी काम को करने में हिचकता नहीं था चाहे वो पूरा खेत जोतकर फसल बोना हो या मां के न रहने पर अकेले खाना बनाना (और सच में तो दूसरा काम ज्यादा मुश्किल पड़ा!) और काम चाहे सही हो या गड़बड़ उसके आत्म विश्वास में कोई कमी नहीं आती थी।

जब आधी रात दलिया पकाते हुए घर में पानी खत्म हो जाता है तो मीशका कुएं पर पानी लेने जाता है। उसके खाली हाथ लौटने पर उसके और कथा सुनाने वाले बच्चे के बीच के संवाद देखिए, "पानी कहां है?" मैंने पूछा।

"पानी ? - वहां कुएं में"

"बको मत। बाल्टी का तुमने क्या किया?"

"बाल्टी ? वह भी कुएं में है।"

"मतलब, तुमने उसे गिरा दिया?"

"ठीक"

"गधे कहीं के ! इस तरह तो हम भूखों मर जाएंगे। अब हम पानी कैसे लाएंगे?"

"हम केतली में ला सकते हैं।"

मैंने केतली उठाई। "लाओ रस्सी दो।"

"मेरे पास नहीं है।"

"कहां है?"

"वहीं उसके भीतर।"

"किसके भीतर?"

"कुएं के।"

"तो तुमने बाल्टी के साथ रस्सी भी गिरा दी न?"

"ठीक बात है।"

देखा आत्मविश्वास ! और यही मीशका घोर संकट के समय दार्शनिकों-सी बातें करता है। जब पानी खत्म हो जाने पर नायक को प्यास लगती है तो मीशका कहता है, "यही बात है। पानी नहीं होता तो बुरी तरह प्यास लगती है। रेगिस्तान में भी लोगों को हमेशा इसलिए प्यास लगती है कि वहां पानी बिल्कुल नहीं होता।" और प्यास मिट जाने पर मीशका का दार्शनिक कथन है "यही होता है - जब प्यास लगती है, तो लगता है सारे समुद्र को ही पी डालेंगे, लेकिन जब पानी पीना शुरू करो, तो मग्गा भर ही काफी हो जाता है। वजह यही है कि आदमी स्वभाव से ही लालची होता है।" देखा ! क्या कमाल का लॉजिक है। यही सब कुछ है मीशका में जो मुझे उससे दूर नहीं जाने देता। निकोलाई नोसोव का यह चरित्र मेरे बचपन के दोस्तों में शुमार है।

मीशका के अपने पायनियर दल के साथ के कारनामे पढ़कर मुझे अपने वो स्काउटिंग कैम्प याद आ जाते हैं जिनमें हम दोस्त स्कूल के दिनों में साथ जाते थे। कैसे बारिश के दिनों में हम चादर ले जाना भूल गए थे और पांच दिन ठंड में ठिठुरे थे। कैसे आधी रात में सबने मिलकर अपने ही दोस्त को भूत बनकर डराया था। ये सभी गांव और कस्बे एक पिछड़े जिले के बहुत ही सामान्य से गांव हैं पर 'झिलाई' 'रजवास', 'पलेई' मेरे लिए आज भी वही रहस्य-रोमांच से भरपूर अनुभव है जो मैंने उन दिनों में वहां रहते हुए महसूस किए थे। वो आपके लिए सामान्य हो सकते हैं पर मेरे लिए 'खास' हैं। बिल्कुल उसी तरह जिस तरह 'मीशका' मेरे लिए खास है।

तो दोस्तो... बच्चों के लिए परियों की कहानियां जरूरी हैं क्योंकि ये कहानियां ही तो सपने देखना सिखाती हैं। क्या हम उस 'इवान' और 'वासिलीसा' को वापस नहीं ला सकते? माना थोड़ा मुश्किल है पर ख्वाबों को बचाने के लिए एक कोशिश तो कर ही सकते हैं हम मिलकर। पाश हमें रास्ता दिखाते रहेंगे।

"सबसे खतरनाक होता है,

हमारे सपनों का मर जाना।" ◆

